सहजानन्द-वात्सल्य

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

सहजानन्द-वात्सल्य

रचयिता—

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक—

खेमचन्द जैन, सर्राफ
मन्त्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उ० प्र०)

परमात्म-आरती

ॐ जय जय अविकारी ।

जय जय अविकारी, ॐ जय जय अविकारी ।
हितकारी भयहारी, शाश्वत स्वविहारी ॥टेक॥ ॐ

काम क्रोध मद लोभ न माया, समरस सुखधारी ।
ध्यान तुम्हारा पावन, सकल क्लेशहारी ॥१॥ ॐ

हे स्वभावमय जिन तुमि चीना, भव सन्तति टारी ।
तुव भूलत भव भटकत, सहत विपति भारी ॥२॥ ॐ

परसम्बंध बंध दुख कारण, करत अहित भारी ।
परमब्रह्मका दर्शन, चहुं गति दुखहारी ॥३॥ ॐ

ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमन संचारी ।
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुण भण्डारी ॥४॥ ॐ

बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शांतिचारी ।
टलें टलें सब पातक, परबल बलधारी ॥५॥ ॐ

मंगल-तन्त्र

ॐ नमः शुद्धाय, ॐ शुद्धं चिदस्मि ।

मैं ज्ञानमात्र हूं, मेरे स्वरूपमें अन्यका प्रवेश नहीं, अतः निर्भार हूं ।
मैं ज्ञानघन हूं, मेरे स्वरूपमें अपूर्णता नहीं, अतः कृतार्थ हूं ।
मैं सहज आनंदमय हूं, मेरे स्वरूपमें कष्ट नहीं, अतः स्वयं तृप्त हूं ।

ॐ नमः शुद्धाय, ॐ शुद्धं चिदस्मि ।

•••○◯○•••

आत्म-रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूं, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूं ॥टेक॥

हूं ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूं सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण ।
हूं सत्य सहज आनंदधाम, मैं सहजा०, मैं दर्शन० ॥१॥
हूं खुदका ही कर्ता भोक्ता, परमें मेरा कुछ काम नहीं ।
परका न प्रवेश न कार्य यहां, मैं सहजा०, मैं दर्शन० ॥२॥
आऊं उतरूं रम लूं निजमें, निजकी निजमें दुविधा ही क्या ।
निज अनुभव रससे सहज तृप्त, मैं सहजा०, मैं दर्शन० ॥३॥

•••○◯○•••

सहजानन्द–वात्सल्य

एकता, वात्सल्य एवं मोक्षमार्ग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

अनादिकालसे पंचपरावर्तनरूप संसार-भ्रमण करते हुए आज सुयोगसे मानवजन्म, सत्कुल, सद्बुद्धि, जैनसासन पाया तो इस अवसरमें हम सबका यह कर्तव्य हो जाता है कि अहंकार ममकार भोगप्रीति विषयकषायको दूर करके मोक्षमार्गमें लगें और निकट भविष्यमें सकल संसार-संकटोंसे मुक्ति पावें। इस साधनाके लिये अन्तस्तत्त्वके यथार्थ श्रद्धान् ज्ञान आचरण की आवश्यकता है जिसका उपाय जैनशासनमें वर्णित है। इस उपायको हम यथापद बना सकें इसके लिये प्रशान्त वातावरण सहायक है। जैनशासनमें तत्त्वज्ञानकी साधना स्याद्वाद न्यायके बलपर है। स्याद्वादसे हम भिन्न-भिन्न दृष्टियों द्वारा परस्पर विरुद्ध वस्तुधर्मका अविरोध रूपसे दर्शन करते हैं, स्याद्वाद न्यायबलसे ज्ञानी पुरुष सभी दार्शनिकोंके विद्वेषको मिटाकर प्रशान्त वातावरण बना लेता है। तब मंदकषायके व्यवहारमें

रहकर ज्ञानी अपनी निर्विघ्न साधना कर लेता है। जैन गृहस्थ समाजमें परस्पर विरोध न हो, अप्रेम न हो तभी गृहस्थ मनका समाधानपूर्वक आत्मोत्थानके उपायमें प्रवर्तन कर सकता है। विरोध, विद्वेषके वातावरणमें अशान्त क्षुब्ध मन आत्महितके उपायमें नहीं चल सकता। एतदर्थ आवश्यक है कि जैनसमाज एक रहे व परस्पर सवात्सल्य रहे ताकि अनुकूल पवित्र वातावरणमें रहकर ज्ञानी पुरुष परपदार्थ व परभावसे भिन्न स्वच्छ चैतन्यमात्र रूपमें अपनी प्रतीति करके सदाके लिये भवभ्रमणसे छूट जानेका उपाय कर सकें—इस सद्भावनासे समस्त मुमुक्षु जनोंके निश्छल वात्सल्यसे मैं तत्त्व याथात्म्य लिख रहा हूं। संभव है कि यह निबंध पक्षियों व्यवहारैकान्त पक्षियों दोनोंको रुच जाये, क्योंकि यह सब प्रयास मेरा निष्पक्ष तत्त्वके वर्णनका निष्पक्ष है। मेरा सभी साधर्मियोंमें वात्सल्य है। यदि इस निष्पक्ष तथ्यको सही अपनाकर समाज परस्पर धर्मवात्सल्यसे रहकर शान्तिमार्गका लाभ ले तो इसमें मेरेको प्रसन्नता होगी।

समस्त जैनसमाजका मूल लक्ष्य एक है— पञ्चपरमेष्ठी आदि पूज्य तत्त्वोंकी भक्ति उपासनाके व्यवहारमें रहते हुए अन्तरङ्गमें ज्ञानस्वभाव अन्तस्तत्त्वकी आराधना करके निकट भविष्यमें कर्म (द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म) से मुक्त होनेकी, जन्म-मरणसे रहित होनेकी, परिपूर्ण सहज ज्ञानानन्दको अनुभवते

रहनेकी सिद्धि प्राप्त हो। जब मूल लक्ष्य एक है तब विरोध भावको अवसर क्यों दिया जाय ?

समस्त जैनसमाजका भक्तिविषय भी एक है—वीतराग सर्वज्ञदेव, निरारम्भ, निष्परिग्रह, ज्ञानध्यानतपोरत गुरु, मोह रागद्वेषके विध्वंसका उपाय बताने वाली जिनवाणी। जब भक्तिविषय भी एक है तब विरोधभावको अवसर क्यों दिया जाय ?

समस्त जैनसमाजका आराध्य तत्त्व भी एक है—अनादि अनन्त अहेतुक शाश्वत अविकार सहज चिन्मात्र अन्तस्तत्त्व। जब अंतः आराध्यतत्त्व भी एक है तब विरोधभावको अवसर क्यों दिया जाय ?

इस समय विरोध भावकी आधाररूप जो पद्धति बन रही है उसपर विवेकपूर्वक विचार किया जाय तो वहाँ भी विरोध भावका अवकाश नहीं रहता। वे पद्धतियाँ कुछ ये हैं जिनपर क्रमशः विचार किया जायगा—(१) निमित्तनैमित्तिक भाव और वस्तुस्वातन्त्र्य, (२) क्रमनियमित पर्याय, (३) सर्वज्ञता, (४) स्याद्वाद भंगविधि, (५) भूतार्थ, अभूतार्थ, (६) निश्चय, व्यवहार व उपचार, (७) साधुगुण, (८) मूर्तिपूजा, (९) पूजा-विधि।

(१) निमित्तनैमित्तिक भाव और वस्तुस्वातंत्र्य—

कुछ लोग निमित्तनैमित्तिक भावका यह रूप बना देते हैं

कि निमित्तने जीव विकार किया तथा कुछ लोग वस्तुस्वातंत्र्य को इस रूपमें ले जाते हैं कि जीवमें अपने आप जब विकार हुआ तब निमित्त हाजिर हो जाता है।

अब इन दोनों प्रस्तावोंके सम्बंधमें जरा अपनी युक्तिसे भी विचार करें कि (१) यदि निमित्त जीवविकारका कर्ता है तब निमित्त कृपा करे तो विकार छूटे, सो निमित्त कृपा क्यों करेगा, सबको अपने-अपने कुलकी बढ़वारीका शौक है, सो निमित्त यदि जीवविकारको करता है तो विकारके छूटनेका कोई उपाय नहीं बन सकता। (२) जीवमें अपने आप विकार होता है तो निमित्त को हाजिर हुवानेकी तकलीफ ही क्यों देते हो ? निमित्त हाजिर हो या न हो, विकार तो अपने आप हो रहा है। यों विकार होनेमें कोई परनिमित्त न हो अर्थात् यही आत्मा विकार करे और यही आत्मा विकारका निमित्त हो तब तो आत्मा विकार का नित्य कर्ता हो जायगा, विकार स्वभाव हो जायगा, तब विकार हटनेका अवसर ही न आवेगा। जीवमें जब विकार होता है तब निमित्त हाजिर होता है—इस भाषाने विकारको (नैमित्तिकको) निमित्त बना दिया और निमित्तको (कर्मविपाक को) नैमित्तिक बना दिया जो कि तथ्यके बिलकुल विपरीत है। यद्यपि जीवविकार और निमित्त दोनों एक समयमें हैं, फिर भी "जब तब" शब्दोंका सीधा प्रयोग न करके नैमित्तिक के साथ जब और निमितके साथ तबका प्रयोग करना हृदय

को स्वीकार न होकर भी कभी कह बैठेका आग्रह करना मात्र है ।

इस प्रसंगमें यह ध्यान देने योग्य बात है कि जीवविकार में निमित्त दो प्रकारके होते हैं—(१) अन्तरंग निमित्त और (२) बहिरंग निमित्त । अन्तरङ्ग निमित्त तो कर्मविपाक हैं, बहिरङ्ग निमित्त विषयभूत पदार्थ हैं । अन्तरङ्ग निमित्त अपने उदय या उदीरणाके समयमें अपनी स्थितिसे उपस्थित होते हैं और बहिरङ्ग निमित्त उपचार्य होते हैं अर्थात् विषयभूत पदार्थमें उपयोग जुड़े तब वे निमित्त कहलाते हैं । निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धके प्रसंगमें अन्तरङ्ग निमित्तकी बात चला करती है कि तथ्य यह है, सो यहाँ तथ्य यह है कि जब पूर्वबद्ध कर्मका विपाक होता है तब यह जीव उस कर्मविपाक-सन्निधानमें अपनी परिणमनशक्तिसे अपनेमें चैतन्यविकार रूपसे परिणमता है । इस घटनामें कर्मविपाक निमित्तमात्र है वहाँ चैतन्यविकारका कर्ता नहीं, जीव ही चैतन्यविकाररूप परिणम कर अपने विकारका कर्ता बना, तथापि कर्मविपाक सान्निध्यमें ही ऐसा जीवविकार परिणमन हुआ । यहाँ निमित्तनैमित्तिक भाव, वस्तुस्वातन्त्र्य दोनों एक साथ हैं । समयसारमें दोनोंकी सिद्धि साथ-साथ की है, भले ही प्रकरणवश किसीको प्रधान रूपसे, किसीको गौणरूपसे कहीं-कहीं दर्शाया है । अग्रलिखित उद्धरणोंमें दोनोंका स्थान देखिये—

समयसार गाथा ८०, ८१, ८२ तथा आत्मख्याति टीका।

भाषानुवाद—जीव और पुद्गलका परस्पर निमित्तमात्रपना है तो भी उन दोनोंमें कर्तृकर्म भाव नहीं है।

जीवपरिणामका हेतु पाकर पुद्गल कर्मरूपसे परिणमते हैं, उसी प्रकार कर्मका निमित्त पाकर जीव भी परिणमता है ॥८०॥ जीव कर्मके गुणको नहीं करता उसी प्रकार कर्म जीवके गुणको नहीं करता, परन्तु अन्योन्य (एक दूसरेके) निमित्तसे दोनोंका परिणमन जानो ॥८१॥ इस कारणसे आत्मा अपने भावसे कर्ता है, किन्तु पुद्गलकर्मकृत सर्व भावों का कर्ता नहीं है ॥८२॥ टीका—जिस कारणसे कि जीव परिणामको निमित्त करके पुद्गल कर्मरूपसे परिणमते हैं, पुद्गलकर्मको निमित्त करके जीव भी परिणमता है, इस प्रकार जीव और पुद्गलके परिणामोंमें अन्योन्य निमित्तपनेका वर्णन होनेपर भी जीव और पुद्गलमें परस्पर व्याप्यव्यापक भावका अभाव होनेसे जीवके पुद्गल परिणामोंका कर्तृकर्मत्व असिद्ध होनेपर तथा पुद्गलकर्मके भी जीवपरिणामोंका कर्तृकर्मत्व असिद्ध होनेपर और निमित्तनैमित्तिक भाव मात्र अप्रतिषिद्धत्व (निवारण नहीं किया जा सकता) होनेसे परस्परके निमित्त मात्र होनेसे ही दोनोंका परिणमन है। इस कारण मिट्टी द्वारा कलशकी तरह अपने भावसे अपने भावका करना होनेसे जीव स्वके भावका कर्ता कदाचित् है, परन्तु मिट्टीके द्वारा वस्त्रकी

तरह अपने भावसे परभावका किया जाना अशक्य होनेसे पुद्गलपरिणामोंका कभी भी कर्ता नहीं, यह निश्चय हुआ। इस कारण यह ठीक हुआ कि जीवका अपने परिणामके ही साथ कर्तृकर्मभाव और भोक्तृभोग्य भाव है।

समसार गाथा ८३की आत्मख्याति टीका—

भाषानुवाद—जैसे समुद्रकी तरंगसहित व तरंगरहित अवस्था वायुके चलने व न चलनेके निमित्तसे होनेपर भी वायु व समुद्रमें व्याप्यव्यापक भावका अभाव होनेसे कर्तृकर्मत्वकी असिद्धि होनेपर समुद्र ही स्वयं अन्तर्व्याप्यव्यापक होकर आदि मध्य व अन्तमें तरंगसहित व तरंगरहित अवस्थाको व्यापकर अपनेको अन्तरंग व निस्तरंग करता हुआ एक अपनेको ही करता हुआ प्रतिभात (विदित) होता है, अन्यको नहीं। और जैसे वही समुद्र भाव्यभावक भावका अभाव होनेसे, परके द्वारा परभावका अनुभवन किया जाना अशक्य होनेसे अपनेको ही उत्तरंग व निस्तरंग अनुभवता हुआ एक अपनेको ही अनुभवता हुआ प्रतिभात होता है, अन्यको नहीं। उसी प्रकार जीवको ससंसार व निःसंसार अवस्था पुद्गलकर्मविपाकके होने व न होनेके निमित्तसे होनेपर भी पुद्गलकर्म व जीवमें व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेसे कर्तृकर्मत्वकी असिद्धि होनेपर जीव ही स्वयं अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य व अन्तमें ससंसार व निःसंसार अवस्थाको व्यापकर अपनेको ससंसार व

निःसंसार करता हुआ एक अपनेको ही करता हुआ प्रतिभात (विदित) होवे, अन्यको नहीं तथा यही आत्मा भाव्यभावक भावका अभाव होनेसे अपनेको ससंसार व निःसंसार अनुभवता हुआ एक अपनेको ही अनुभवता हुआ प्रतिभात होवे, अन्यको नहीं।

समयसार गाथा ८९ की आत्मख्याति टीका—

भाषानुवाद——स्वरससे ही समस्त वस्तुस्वभावभूत स्वरूप के परिज्ञानमें समर्थपना होनेपर अनादिवस्त्वंतरभूत मोह (पौद्गलिक जैसा कि ८८वीं गाथामें कहा है) से युक्त होनेके कारण उपयोगका मिथ्यादर्शन, अज्ञान व अविरति, यों तीन प्रकारका परिणामविकार होता है। और वह स्फटिक स्वच्छताकी तरह परसे भी होता हुआ देखा गया है। जैसे कि स्वरूपपरिणाममें समर्थपना होनेपर कभी नीला, हरा, पीला, तमाल, कहली कांचन पात्रके उपाश्रयसे मुक्त होनेसे स्फटिक स्वच्छताका नीला, हरा, पीला——यों तीन प्रकारका परिणाम देखा गया। उसी प्रकार अनादि मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति स्वभाव वाले वस्त्वन्तर्भूत मोहसे युक्त होनेसे उपयोगका मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति—यों तीन प्रकारका परिणामविकार देख लेना चाहिये।

उक्त जैसे अनेकों उद्धरण हैं जिसमें निमित्तनैमित्तिक भाव व वस्तुस्वातंत्र्य दोनोंको साथ-साथ दिखाया गया है।

दोनोंके साथ रहनेमें कोई विरोध नहीं। निमित्तनैमित्तिक भाव होनेसे वस्तुस्वातन्त्र्यको कोई आँच नहीं आती और वस्तु-स्वातंत्र्य होनेसे निमित्तनैमित्तिक भाव प्रतिषिद्ध नहीं हो जाता।

वस्तुस्वातन्त्र्यके परिचयसे यह लाभ है कि परमें कर्तृत्व का अहंकार नहीं रहता, क्योंकि जीव परका परिणमन नहीं करता तथा परके प्रति दीनता व कायरताका भाव नहीं रहता, क्योंकि किसी परके द्वारा इस जीवका परिणमन नहीं होता। निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयसे यह लाभ है कि अपनेपें हुए विकारमें भी कर्तृत्वका अहंकार नहीं रहता। विकारसे भिन्न अविकारस्वरूप चैतन्यस्वभावकी दृष्टि हो जाती है, क्योंकि विकार नैमित्तिक भाव है, जीवका स्वरूप नहीं तथा दूसरे जीवोंके सुख दुःखका कर्तृत्वका अहंकार नहीं रहता, क्योंकि उनका सुख दुःख उनके कर्मोदयका निमित्त पाकर हुआ है। इन सब तथ्योंका परिचय कराने वाली ये कुछ गाथायें देखिये—

समयसार गाथा १९८ व आत्मख्याति टीका—

भाषानुवाद—सम्यग्दृष्टि सामान्य रूपसे स्व व परको निश्चयसे इस प्रकार जानता है—कर्मोका उदयविपाक नाना प्रकारका जिनेन्द्रदेवों द्वारा वर्णित है, परंतु वे मेरे स्वभाव नहीं हैं, मैं तो एक ज्ञायकस्वभाव हूं ॥१९८॥ जो कर्मोदयविपाकसे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके भाव हैं वे मेरे स्वभाव नहीं हैं। यह

मैं टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव हूं।

समयसार गाथा १९९ व आत्मख्याति टीका—

भाषानुवाद—सम्यग्दृष्टि विशेष रूपसे स्व और परको निश्चयसे इस प्रकार जानता है—राग पुद्गल कर्म है उसका यह विपाकोदय है, परन्तु यह मेरा स्वभाव नहीं, मैं तो एक ज्ञायकभाव हूं ॥१९९॥ राग नामक पुद्गलकर्म है उसके उदयविपाकसे उत्पन्न हुआ यह रागरूप भाव है, पर वह मेरा स्वभाव नहीं, मैं तो यह टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव हूं।

समयसार गाथा २५४, २५५, २५६ व आत्मख्याति—

भाषानुवाद—अध्यवसाय अज्ञान कैसे है, ऐसा पूछो तो—सब जीव जब कर्मोदयसे दुःखी सुखी होते हैं और तुम उन्हें कर्म दे सकते नहीं हो तब तुमने उन्हें दुःखी सुखी कैसे किया ॥२५४॥ जब सब जीव कर्मोदयसे दुःखी सुखी होते हैं और वे तुमको कर्म दे सकते नहीं तो उन्होंने तुम्हें दुःखी कैसे किया ॥२५५॥ जब सब जीव कर्मोदयसे दुःखी सुखी होते हैं और वे तुम्हें कर्म दे सकते नहीं तब उन्होंने तुम्हें सुखी कैसे किया ॥२५६॥ निश्चयसे जीवोंको सुख दुःख अपने-अपने कर्मोदयसे ही होता है, कर्मोदयके अभावमें सुख दुःखका होना अशक्य है और अपना कर्म अन्यके द्वारा अन्यको देना शक्य है नहीं, क्योंकि अपने-अपने परिणामसे ही कर्म उपार्जा जाता है (बनाता है)। इस कारण किसी भी प्रकार अन्य-अन्यको सुख

दुःख नहीं कर सकता है। इस कारण मैं (दूसरोंको) सुखी दुःखी करता हूं और मैं (दूसरोंके द्वारा) सुखी दुःखी किया जाता हूं, यह अध्यवसाय निश्चित अज्ञान है। "सब कुछ यह सदा ही निश्चित है कि जीवोंका मरण-जीवन, दुःख और सुख अपने-अपने कर्मोदयसे होता है। यहाँ यह तो अज्ञान है कि दूसरा जीव दूसरे जीवका मरण-जीवन, दुःख व सुख करता है। इस अज्ञानको पाकर जो जीव दूसरे जीवसे दूसरे जीवका मरण-जीवन, दुःख-सुख देखते हैं (समझते हैं) वे मिथ्यादृष्टि अहंकार रससे करनेकी इच्छा करते हुए निश्चयसे आत्मघाती होते हैं।

समयसार गाथा २७८, २७९ व आत्मख्याति—

भाषानुवाद—जैसे शुद्ध स्फटिक मणि स्वयं राग (लाल) आदि रूपसे नहीं परिणमता, किन्तु वह अन्य लाल आदि द्रव्योंसे लाल बनता है ॥२७८॥ इसी प्रकार शुद्ध (केवल-अकेला) ज्ञानी (जीव) स्वयं राग आदि रूपसे नहीं परिणमता है, किन्तु वह अन्य राग आदि दोषों (कर्ममल) के द्वारा राग-भावरूप परिणमता है (रागी बनता है) ॥२७९॥ निश्चयसे जैसे केवल स्फटिक पाषाण परिणमनस्वभावी होनेपर भी खुद शुद्ध स्वभाव होनेसे रागादिका निमित्त न होनेसे स्वयं रागादि रूपोंसे नहीं परिणमता, किन्तु स्वयं राग (लाल) आदि भावसे युक्त होनेके कारण स्व (स्फटिक) के रागादि (लाल आदि) के

निमित्तभूत परद्रव्यके द्वारा ही शुद्ध स्वभाव (स्वच्छता) से च्युत होता हुआ ही रागादि रूपोंसे परिणमाया जाता है। उसी प्रकार निश्चयसे केवल आत्मा परिणमनस्वभावी होनेपर भी स्वयं शुद्ध स्वभाव होनेसे रागादि भावका निमित्त न होनेसे रागादि रूपोंसे स्वयं नहीं परिणमता है, किन्तु स्वयं रागादि भावसे युक्त होनेके कारण स्व (जीव) के रागादि भावमें निमित्तभूत परद्रव्यके द्वारा ही शुद्ध स्वभाव (सहज ज्ञातृत्व-मात्र) से च्युत होता हुआ ही रागादि रूपोंसे परिणमता है, यह वास्तवमें वस्तुस्वभाव है। "अर्ककान्तकी भाँति आत्मा अपने रागादि परिणामके निमित्त भावको कभी भी नहीं प्राप्त होता है। उसमें निमित्त परसंग ही है, वास्तवमें यह वस्तुस्वभाव प्रकट होता है। इस प्रकार स्व वस्तुस्वभावको ज्ञानी पुरुष जानता है, इस कारण वह आत्माके रागादिको नहीं करता हुआ कारक (कर्ता) नहीं होता है।

देखिये—निमित्तनैमित्तिक भावके यथार्थ परिचयका यह लाभ मिला कि ज्ञानी रागादिका कर्ता नहीं है, क्योंकि वह जानता है कि रागादि भाव पुद्गलकर्मविपाकका निमित्त पाकर जीवमें होते। किन्तु जिनका मत है कि जीव जब कर्मो-दयमें उपयोग जोड़ता है तब वह निमित्त कहलाता है तो यह बात तो जीवने की, वह अपने आप रागादि भावका कर्ता बन गया, पर यहाँ तो यह बात है कि अज्ञानी जीव भी राग भाव

का कर्ता नहीं, किन्तु कर्मोदयका निमित्त पाकर रागादि भाव होता है, उसे वह अपनाकर अज्ञानी बनता है। निमित्तनैमित्तिक भावके यथार्थ परिचयसे यह ज्ञानी रागादि भावका ऐसा अकर्ता है कि वह खेल ही देख रहा है, जानता है वह कि मैं रागादिका कर्ता नहीं, परद्रव्यके द्वारा चेतन रागादि किया जा सकता नहीं, यों वह रागादिसे रहित हो जाता है। तथ्य यहाँ यह लेना कि कर्म चेतन रागादिका न कभी कर्ता था, न है, न कभी हो सकेगा तथा विकारपरिणमन (चेतन रागादि) निमित्त (कर्मविपाक) सद्भाव बिना न कभी हुआ, न है, न कभी हो सकेगा। इसी प्रकार चेतन रागादि पुद्गलकर्मका कर्ता न कभी था, न है, न कभी हो सकेगा तथा पुद्गलकर्मबन्ध निमित्त (चेतन रागादि) सद्भाव बिना न कभी हुआ, न है, न कभी हो सकेगा। इसीका निर्णयरूप सूचन समयसार २८२वीं गाथामें देखिये—

समयसार गाथा २८२ व आत्मख्याति टीका—

भाषानुवाद—इस कारण यह निर्णय ठीक हुआ—राग में, द्वेषमें व सभी कषाय कर्मोंमें जो भाव हैं उनसे परिणमता हुआ जीव फिर रागादि (पुद्गलकर्म रागादि) को बाँधता है ॥२८२॥ निश्चयसे जो ये अज्ञानीके पुद्गलकर्मनिमित्तक राग, द्वेष, मोहादि परिणाम हैं वे ही पुनः राग, द्वेष, मोहादि परिणामके निमित्त भूत पुद्गलकर्मके बंधके हेतु होते हैं। इति॥

उक्त उद्धरणोंमें यह स्पष्ट है कि रागादि विकार पर-उपाधिके अभावमें नहीं होते, पर-उपाधिसन्निधानमें ही होते हैं। इससे यह नहीं समझना कि निमित्त उपादानमें कुछ करता है, किन्तु यह समझना कि चूंकि आत्मा कर्मविपाक निमित्तसान्निध्यमें ही अपनी परिणमनशक्तिसे इन विकारोंरूप परिणमता है, निमित्तसान्निध्यके अभावमें नहीं, अतः ये विकार परभाव हैं, मेरे स्वरूप नहीं, मैं तो शुद्ध ज्ञानमात्र हूं। निमित्त उपादानमें कुछ परिणमन कर देता है—यह समझना तो प्रकट अज्ञान है, क्योंकि वह द्विक्रियावादी बन गया। एक द्रव्यके द्वारा दूसरे द्रव्यका गुणोत्पाद किया ही नहीं जा सकता तथा निमित्तसान्निध्य बिना विकार होता है—यह समझना भी अज्ञान है, क्योंकि वह विकारस्वभाववादी बन गया, किन्तु विभाव स्वप्रत्ययक होता ही नहीं।

वस्तुस्वातन्त्र्यके विवरणसे व निमित्तनैमित्तिक भावके विवरणसे स्वभावदृष्टि करनेकी शिक्षा मिलती है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता न कभी हुआ, न है, न होगा। एक द्रव्य को दूसरे द्रव्यका कर्ता मान लेनेपर जगत शून्य हो जायगा, किन्तु जगत शून्य कहाँ है, सब कुछ तो सामने है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका परिणमन कर दे तो बताओ वह द्रव्य अपने रूप मिटकर दूसरे द्रव्यरूप बने या दूसरा द्रव्य अपने रूप मिटकर इस एक रूप बने, कुछ भी अटपट होगा, यों जगत शून्य हो

जायगा तथा एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता हो जायगा तो अत्यन्त विवशताके कारण मुक्तिमार्गका उपाय न रहेगा। अतः निमित्त अकिञ्चित्कर है। हाँ, निमित्तका अस्तित्व इतना प्रयोजनवान है कि उपादान निमित्तके सन्निधानमें ही अपना विकारपरिणमन करता है, निमित्तके अभावमें नहीं कर सकता। यदि जीव निमित्तके अभावमें विकारपरिणमन करे तो जीव विकारका नित्यकर्ता हो जावेगा, यों मोक्षमार्ग नहीं बनेगा।

समयसार ग्रंथकी गाथावोंमें व टीकामें पाँच प्रकारका वर्णन है—(१) अखण्ड तत्त्व, (२) भेदव्यपदेश, (३) वस्तु-स्वातन्त्र्य, (४) निमित्तनैमित्तिक भाव और (५) उपचार। इन पाँच विषयोंमें से अखण्ड तत्त्व व भेदव्यपदेशके बारे में कोई विवाद नहीं चल रहा। वस्तुस्वातन्त्र्य व निमित्त-नैमित्तिक भावके सम्बन्धमें कुछ विवाद है, अतः इन दोनों तथ्योंके सम्बन्धमें कुछ प्रकाश किया है। समयसारमें वस्तु-स्वातन्त्र्यका वर्णन करने वाली बहुत गाथायें हैं, निमित्तनैमि-त्तिक सम्बन्धका वर्णन करने वाली भी अनेक गाथायें हैं तथा दोनों तथ्योंका एक साथ वर्णन करने वाली भी अनेक गाथायें हैं, ऐसी गाथाओंमें से कुछ गाथाओंका उद्धरण दिया है।

अखण्ड तत्त्व, भेदव्यपदेश, वस्तुस्वातंत्र्य व निमित्तनैमि-त्तिक भावका कथन करने वाली भाषामें जैसा कहा जाता है वह उसी प्रकार है। उपचारकी भाषामें जिन शब्दोंमें कहा

जाता है वैसा ही यथार्थ है ऐसा नहीं समझना। कारण कि संयोगसम्बन्धको तन्मय रूपमें कह देनेसे, समागत वस्तुको अधिकृत्य रूपमें कह देनेसे, निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धको कर्तृ-कर्मत्वरूपमें कह देनेसे, आश्रयभूत (नोकर्म) पदार्थको कर्तृ-कर्मत्व व भोक्तृभोग्यत्वरूपमें कह देनेसे उपचार बन जाता है, किन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है अतः उपचार मिथ्या है। उपचार का जहाँ वर्णन है वहाँ जैसा शब्दोंमें कहा तैसा ही यथार्थ है—यह समझनेके लिये लिखा है, किन्तु लौकिकी रूढ़िमें इस प्रकार कहा जाता है यह समझानेके लिये लिखा है तथा उप-चारमें कोई ईषत् (थोड़ा) प्रयोजन है, यह बतानेके लिये लिखा है। तात्पर्य यह है उपचारका जहाँ वर्णन है वहाँ जैसा शब्दोंमें कहा तैसा ही यथार्थ है, यह समझनेके लिये नहीं लिखा, किन्तु लौकिकी रूढ़िमें इस प्रकार कहा जाता है, यह समझानेके लिये लिखा तथा उस उपचारमें भी कोई ईषत् (थोड़ा) प्रयोजन है, यह बतानेके लिये लिखा।

जैसे—बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरि-न्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त इस प्रकार शरीरकी संज्ञाओं को जीव नामसे कहा तो वहाँ यह प्रयोजन है कि जो इन वर्णादिक रूपमें जीवको जानता आया है उन्हें समझाना है कि जो ये वर्णादिमान् जीव है सो वास्तवमें वह ज्ञानमय है, वर्णा-दिमान् नहीं। यहाँ कोई इस दिखने वालेको ही जीव मान ले

तो वह व्यामोही संसार-भ्रमण ही करेगा। यदि कोई इन्हें एकान्तसे अजीव ही मान लेगा तो वह हिंसा आदि निरर्गल प्रवृत्ति करेगा सो वह अज्ञानी भी संसार भ्रमण करेगा। जैसे कि मिट्टीसे बने और घी भरे घड़ेको कोई घीका घड़ा कहे तो उसे समझाया जाता है कि जो यह घीका घड़ा कहा जाता है, सो वास्तवमें घी का घड़ा नहीं, किन्तु मिट्टीका घड़ा है। यहाँ कोई उस घड़ेको एकान्ततः घीका घड़ा समझे और चाटे तो क्या घी का स्वाद मिल जावेगा या एकान्ततः मिट्टी का ही घड़ा ऐसा समझे जैसा कि घी नहीं रखे घड़ेको समझता तो उसे उसे जमीनपर पटक देगा तो क्या पीछे कुछ रोयेगा? नहीं। तो उपचारमें जितना प्रयोजन है उतना समझ लेना, उपचारकी भाषामें जो कहा उसे ही यथार्थ न समझना।

अथवा जैसे कहा कि जीव पुद्गलकर्मका कर्ता है, तो यहाँ यह प्रयोजन समझना कि जीवके विकारको निमित्त करके पुद्गल कार्माणवर्गणा कर्मरूप बन जाती है। इस प्रयोजनको छोड़कर कोई सीधा समझ ले कि जीव पुद्गलकर्मका करने वाला है, सो जीव पुद्गलकर्मको करे याने कर्मरूप परिणमे तो जीव अजीव बन जायगा, लो जीवका ही नाश हो जायगा। यदि कोई सर्वथा एकान्त करे कि जीवका पुद्गलकर्मसे कुछ सम्बंध ही नहीं, जीवकी कुछ भी स्थिति हो पुद्गलकर्म बंधेगा ही नहीं तो यह जीव निरर्गल प्रवृत्ति करके संसार-भ्रमण

करेगा। तो उपचारमें जितना प्रयोजन है उतना समझ लेना, उपचारकी भाषामें जो कहा उसे ही यथार्थ न जानना। जैसे कि कहा कुम्हार घड़ेका कर्ता है तो यहाँ यह प्रयोजन समझना कि कुम्हारके अनुकूल व्यापारका निमित्त पाकर मिट्टी घड़ेरूपसे परिणमती है। इस प्रयोजनको छोड़कर कोई सीधा समझ ले कि कुम्हार घड़ेका करनेवाला है सो कुम्हार घड़ेको करे याने घड़ारूप परिणमे तो कुम्हार घड़ा बन जायगा, फिर घड़े आगे कैसे बनेंगे व कुम्हारका परिवार होने लगेगा। यदि कोई सर्वथा एकान्त करे कि घड़ा बननेमें कुम्हारका क्या मतलब, क्या सम्बंध, कुम्हार कुछ करे, घड़ा बनेगा ही नहीं, तो घड़ा कुम्हारके घर खरीदने क्यों जाने लगे ? सो उपचारमें जितना प्रयोजन है उतना समझ लेना, उपचारको बोलीमें जैसा कहा वैसा सही न समझना।

सारांश यह है कि आत्माका हित स्वभावदृष्टिमें है। वस्तुस्वातंत्र्यके यथार्थ परिचयमें भी स्वभावदृष्टिको प्रेरणा मिलती है और निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयमें भी विभाव से उपेक्षा होकर स्वभावदृष्टिकी प्रेरणा मिलती है। यथासमय जिस किसी भी विधिसे स्वभावदृष्टिका काम बनानेका ध्येय रखें तथा पक्ष और विरोध तजकर सामान्य वातावरण बनायें जिससे पृथक्तावादका अवसर न रहे और समस्त जैनसमाज

एक व सवात्सल्य रहे ताकि प्रशमपूर्वक मोक्षमार्गके साधनका अवसर रहे।

(२) क्रमनियमित पर्याय—

क्रमनियमित पर्यायका शब्दार्थ है कि क्रमसे हो होनेका जिनका नियम है अर्थात् एक साथ होनेकी जिनकी असंभवता है, ऐसा विशेष अर्थात् पर्याय। आगममें गुण और पर्यायका लक्षण कहा गया है "सहभाविनो गुणः, क्रमभाविनः पर्यायाः" जो एक साथ हों उन्हें गुण कहते हैं और जो क्रमसे हों उन्हें पर्याय कहते हैं। जैसे जीवके विशेष दो तरहके हैं, एक तो वे विशेष जो जीवमें सदा साथ रहें– जैसे ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति, चारित्रशक्ति, आनन्दशक्ति आदि अनन्त गुण ये सदा वहीके वही एक साथ रहते हैं। और दूसरे वे विशेष जो जीवमें एक साथ नहीं होते, किन्तु क्रमसे ही होते हैं—जैसे प्रतिक्षण होने वाली पर्यायें। यद्यपि एक ही समयमें पृथक्-पृथक् गुणकी विवक्षासे उतने परिणमन एक साथ कहे जाते हैं, परन्तु ये ऊर्ध्वताविशेष न होनेसे यहाँ विवक्षित नहीं है। अनन्त गुणोंके भी अनन्तकाल तक प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न परिणमन होते हैं, अतः वे एक साथ नहीं होते, क्रमसे ही होते हैं। क्रमभावी शब्दके एवजमें समयसार टीकामें क्रमनियमित शब्द दिया है।

क्रमभावी (क्रमनियमित) पर्यायके सम्बन्धमें अब एक समस्यापर विचार करना है कि पर्यायें सब द्रव्यमें ऐसे क्रमसे निश्चित हैं कि इस पर्यायके बाद यही पर्याय होगी, इस पर्याय के बाद यही पर्याय होगी, उसमें कभी फेरफार नहीं हो सकता अथवा निश्चित कुछ नहीं है, जैसा निमित्त मिले तैसा होगा। इसका विनिश्चय करनेके लिये दो दृष्टियोंका सहारा लेना होगा—(१) ज्ञप्तिनय, (२) उत्पत्तिनय।

(१) ज्ञप्तिनयसे तो यों जाना जायगा कि चूँकि सर्वज्ञदेवने त्रिलोकवर्ती त्रिकाल सबको जाना है व अवधिज्ञानीने भी कुछ भूत-भविष्यकी पर्यायोंको जाना है, सो जिस समयमें जो पर्याय होनी है उस समय वही पर्याय होगी। यह बात ज्ञप्ति-नयसे ठीक है। अब यहाँ सिर्फ इतना समझना है कि ज्ञान ज्ञेयमें विषयविषयी भाव है जन्यजनक भाव नहीं अर्थात् जो सत् है वह ज्ञान द्वारा ज्ञेय है, अतः इसका नियम यह बना कि जब जो होगा वह विशिष्ट ज्ञान द्वारा जाना गया है। ज्ञानकी ही तरफसे ऐसा नहीं है कि जो जान डाला वही होगा। यह तो फलितार्थ है कि जो जाना गया सो ही होगा, अतः पर्यायें द्रव्यमें क्रमबद्ध हैं। उस क्रमसे होनेमें ज्ञान निमित्त नहीं है, बल्कि उस क्रमसे होना जाननेमें पर्यायोंका होना विषयभूत निमित्त है। वस्तुतः तो प्रत्येक पदार्थ अपने परिणमनसे परिणमते हैं, सो ज्ञान ज्ञेयके होनेके कारण नहीं

परिणमता और ज्ञेय ज्ञान होनेके कारण हीं परिणमनता। फलितार्थ यह निकला कि इस ज्ञप्तिनयकी दृष्टिमें सब कुछ जब जो होगा वह उसी क्रमसे होगा। खुदके भी विचारमें यह विचारा जा सकता है कि द्रव्य प्रतिसमय परिणमता रहेगा। कोई भी समय ऐसा नहीं आवेगा कि जिस क्षण पर्याय न हो। पर्यायका उस-उस समय द्रव्यके साथ तादात्म्य भी है, द्रव्य अनन्तकाल तक रहेगा, सो उसमें कैसे भी विधानसे कुछ भी पर्याय हो, जो कल हो सो कल है, जो परसों हो सो परसों है इत्यादि रूपसे देखनेपर यह विदित किया कि द्रव्यमें सब पर्यायें निश्चित हैं और वे क्रम-क्रमसे होती हैं, उसमें त्रुटि नहीं होती।

(२) अब उत्पत्तिनयसे देखें—द्रव्यमें प्रति वर्तमानमें पर्याय एक रहती है, उसके बाद शुद्ध (निरुपाधि) द्रव्य हो तो वैसी-वैसी ही शुद्ध पर्यायें होंगी, क्योंकि निरुपाधि द्रव्यमें विषम पर्याय होनेका कोई हेतु नहीं। यदि अशुद्ध उपादान है तो वर्तमान अशुद्ध पर्यायके बाद उसमें उपाधिके अनुरूप पर्याय प्रकट होगी। जैसे—अशुद्ध जीवमें पूर्वबद्ध कर्मोंमें जब जिस प्रकृतिका विपाक उदित होगा उसमें उपाधिके अनुरूप यह जीव अपनी परिणमनशक्तिसे अपनेमें विकारपरिणमन करेगा। विकारी पर्यायकी उत्पत्ति विधि इसी प्रकार है। अतः उत्पत्तिनयसे द्रव्यमें भावी पर्याय मात्र द्रव्यकी ओरसे नियत नहीं

है। यदि द्रव्यसत्त्वके कारण ही उसमें विकारी-पर्याय हो तो वह द्रव्य विकारका नित्य कर्ता हो जायगा, फिर द्रव्य विकार-रहित कभी हो ही न सकेगा। हाँ, ज्ञप्तिनयकी अपेक्षासे यह कहा जा सकता है कि जब जो विकार होगा वह उसी समय होगा और उसका निमित्त भी उस समय होगा। विकारकी उत्पत्तिमें कर्मविपाक निमित्त है और विकार नैमित्तिक है। तब यों समझना कि अशुद्ध जीव कर्मविपाकके सन्निधानमें अपनी परिणमनशक्तिसे विकाररूप परिणमता है। इसको इन शब्दोंमें आगममें कहीं भी नहीं कहा गया है कि जब उपादान में विकार होता है तब निमित्त हाजिर होता है। ऐसा कहनेमें विपरीतता यह हो जाती है कि विकार होना निमित्त बन गया व निमित्तोपस्थिति नैमित्तिक बन गया। उत्पत्तिनयसे तो यही निर्णय है कि निरुपाधि द्रव्य तो प्रतिसमय शुद्ध शुद्ध ही परिणमन करेगा, किन्तु सोपाधि द्रव्य उपाधिनिमित्तके अनुरूप अपनेमें अपनी परिणमनशक्तिसे विकार-परिणमन करेगा। यहाँ भी यह ध्यानमें रखना कि निमित्त सब जगह निमित्त-मात्र है, वह उपादानमें कुछ परिणमन नहीं करता, किन्तु निमित्तनैमित्तिक योग ऐसा ही है कि निमित्तके सन्निधानमें ही अशुद्ध उपादान अपनेमें विकार-परिणमन करता है, निमित्तके अभावमें नहीं, अन्यथा विकार स्वभाव बन जायगा और सदा रहेगा।

सारांश यह है कि विकारी पर्याय ज्ञप्तिनयसे तो नियत है और उत्पत्तिनयसे अनियत है, ऐसी विवक्षा जानकर स्याद्वाद द्वारा ज्ञान करके विरोध मिटायें जिससे समाजमें पृथक्तावाद का अवसर न आये व समाज परस्पर सवात्सल्य रहे ताकि विशुद्ध वातावरणमें ज्ञानी पुरुष परपदार्थ व परभावसे भिन्न स्वच्छ चैतन्यमात्र अपनी प्रतीति करके सदाके लिये भवभ्रमण से छूटनेका उपाय पुष्ट कर सकें।

(३) सर्वज्ञता—

जो सबको जाने उसे सर्वज्ञ कहते हैं। सर्वज्ञके भावको सर्वज्ञता कहते हैं। सबका अर्थ है त्रिलोक त्रिकालवर्ती सकल पदार्थ, उस सबको केवलज्ञान जानता है। इसकी सिद्धि प्रवचनसार, धवला, गोम्मट्टसार, प्रमेयकमल मार्तण्ड, अष्टसहस्री आदि आर्ष ग्रन्थोंमें तथा अनेक स्तोत्रोंमें भली-भाँति की गई है। जैसे प्रवचनसारकी ये कुछ गाथायें देखिये—

प्रवचनसार गाथा ३७ व तत्त्वप्रदोपिका वृत्ति—

भाषानुवाद—अब भूत भविष्यत् द्रव्य पर्यायोंकी वर्तमानवत् पृथक्रूपसे ज्ञानमें वृत्तिको प्रकट करते हैं—उन द्रव्यसमूहोंकी सद्भूत व असद्भूत जो पर्यायें हैं। वर्तमानकी तरह ज्ञानमें विशेषरूपसे वर्तती हैं ॥३७॥ समस्त द्रव्यसमूहोंको तीन कालोंमें प्राप्त आत्मलाभकी भूमि होनेसे क्रमसे प्राप्त है स्वरूप

संपत्ति जिनकी, ऐसे सद्भूतपने व असद्भूतपनेको प्राप्त जो जितनी पर्यायें हैं व उतनी तात्कालिक (वर्तमान) की तरह अत्यंत संकररूपसे भी जाना गया है विशेषस्वरूप जिनका, ऐसे वे सब एक समयमें ही ज्ञानमहलमें स्थितिको अवतरित होती हैं। यह सब अयुक्त नहीं है, क्योंकि दृष्टिसे अविरोध है। अतीत अनागत वस्तुका चिन्तन करने वाले छद्मस्थके भी वर्तमानकी तरह उनका आकार ज्ञानालम्बित देखा जा रहा है तथा जैसे कि चित्रपटमें अतीत भविष्यत् और वर्तमान वस्तुओं के आलेख्याकार साक्षात् एक क्षणमें ही अवभासित होते हैं उसी प्रकार ज्ञानभित्तिमें भी त्रिकालवर्ती पदार्थ अवभासित होते हैं, क्योंकि सर्व ज्ञेयाकारोंका ज्ञानमें तादात्विक (वर्तमान होने) का अविरोध है। जैसे कि चित्रपटमें भूत-भविष्यत् चीजों के आलेख्याकार वर्तमान ही हैं वैसे ही भूत-भविष्यत् पर्यायोंके ज्ञेयाकार ज्ञानमें वर्तमान ही हैं।

प्रवचनसार गाथा ३८ व तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति—

भाषानुवाद—अब असद्भूत पर्यायोंका कथंचित् सद्भूतपना प्रकट करते हैं—जो उत्पन्न नहीं हुईं और जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गईं वे सब असद्भूत पर्यायें ज्ञानमें प्रत्यक्ष होती हैं ॥३८। जो अब तक भी उत्पत्तिको नहीं अनुभवते और जो आत्मलाभ अनुभव कर विलयको प्राप्त हो गये वे सब पर्यायें असद्भूत होनेपर भी ज्ञानके प्रतिनियत होनेसे ज्ञानमें प्रत्य-

क्षताको प्राप्त होते हुए पत्थरके खम्भमें उत्कीर्ण किये गये भूत भावी देवकी तरह निष्प्रकंप अर्पित किया है स्वरूप जिन्होंने, ऐसे समस्त पर्याय सद्भूत ही होते हैं।

प्रवचनसार गाथा ३९ व तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति टीका—

भाषानुवाद—अब असद्भूत (भूत भविष्यत्) पर्यायोंके इसी ज्ञानप्रत्यक्षत्वको दृढ़ करते हैं—यदि अज्ञान व प्रलयित पर्याय ज्ञानके प्रत्यक्ष नहीं होते हैं वह ज्ञान दिव्य है, ऐसा कौन कर सकता है ॥३९॥ यदि ज्ञान निर्विघ्न प्रवर्द्धित अखंड प्रतापयुक्त प्रभुशक्ति वाला होनेसे वेगसे ही बिल्कुल आक्रमण करके अक्रम (एक साथ) ही सौंपा है स्वरूप सर्वस्व जिसने, ऐसे जिनका होना नहीं हुआ है और जिनका होना हो चुका है ऐसे समस्त पर्यायसमूहको आत्माके प्रतिनियत नहीं करता है तो उसकी दिव्यता कैसे सिद्ध हो सकती है, अतः उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त ज्ञानके यह सब उपपन्न (मुक्त) है।

प्रवचनसार गाथा ४७ व तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति टीका—

भाषानुवाद—अब फिर भी प्रकृतके अनुसार अतीन्द्रिय ज्ञानको सर्वज्ञत्व रूपसे अभिनन्दित करते हैं—जो तात्कालिक, इतर, विचित्र, विषम समस्त अर्थको एक साथ जानता है वह क्षायिक ज्ञान कहा जाता है ॥४७॥ वर्तमान कालमें प्राप्त है वृत्ति जिनकी और भूत भविष्यत् कालमें प्राप्त है वृत्ति जिसकी, पृथक् रूपसे होने वाले अपने लक्षण रूप लक्ष्मीसे कटाक्षित

अनेक प्रकारका वैचित्र्य जहाँ प्रकट होता है, इतरविरोधसे थपे असमानजातीयत्वसे प्रकट है विषमता जिसकी, ऐसे समस्त भी भी अर्थसमूहको क्षायिक ज्ञान सब ओरसे एक ही साथ नियम से जानता है। क्रमप्रवृत्तिके हेतुभूत, क्षयोपशमावस्थाको प्राप्त ज्ञानावरणीय कर्मपुद्गलोंके नष्ट हो जानेसे तात्कालिक व अतात्कालिक अर्थसमूहको वह एक साथ प्रकाशित करता है। प्रतिनियत देशविशुद्धिका अन्तःप्लवन होनेसे अर्थसमूहको सब ओरसे वह प्रकाशित करता है। असमानजातीय ज्ञानावरणका क्षय होनेसे व समानजातीय ज्ञानावरणीय क्षयोपशमका विनाश होनेसे विषमको भी वह ज्ञान प्रकाशित करता है अथवा अधिक विस्तारसे क्या कहना, बेरोक फैलाव वाले प्रकाशसे युक्त होने से क्षायिक ज्ञान अवश्य ही सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्वको जानता ही है।

इस सर्वज्ञताका परिचय देकर ज्ञप्तिनयसे यह चर्चा होनी प्राकृतिक है कि जो जिस देशमें, जिस कालमें, जिस विधानसे जिसका जो होना जिनेन्द्रदेवने जाना है वह उस देशमें, उस कालमें, उस विधानसे उसका होना होगा। यों जो होगा वह यदि सर्वज्ञ द्वारा ज्ञात हो गया तो वह विषयमात्र ही है, होता तो वह सब विधानसे ही है। अतः कोई भाई निश्चित हो जानेके भयसे सर्वका अर्थ वर्तमानमात्र सब पर्याय—ऐसा अर्थ करनेकी जरूरत न समझें। इस सम्बंधमें एक बात और

विचारी जाय कि सर्वज्ञकी बात अभी न करो तो भी देखो अवधिज्ञानके विषयक काल भी तो असंख्यात है, वह भी तो बहुत भूत भविष्यत्की पर्यायोंको इन्द्रिय व मनकी सहायताके बिना आत्मीय शक्तिसे प्रत्यक्ष जानता है, इसमें तो किसीको भी विवाद नहीं, फिर वह चिन्ता यहाँ भी जा सकती है, अतः ज्ञप्तिनयसे पर्यायें नियत विदित हो जायेंगी, इस शंकासे सर्वज्ञत्वका निषेध नहीं करना चाहिये। ज्ञान स्वतंत्रतासे अपना काम करता है, पदार्थ विधानसे अपना काम करते हैं।

अब सर्वज्ञतासे प्रसक्त दूसरी समस्या यह आती है कि यदि सर्वज्ञ सब पर्यायोंको जानते हैं तो पर्यायोंका अन्त आ जायगा। इस सम्बंधमें देखिये—आगममें स्पष्ट उल्लेख है कि भावी अनन्त पर्यायोंको केवलज्ञान (सर्वज्ञ) अनंत रूपसे जानता है, अनन्त पर्यायोंको सांत रूपसे जाने तो मिथ्या है। यहाँ इतना सर्वत्र जानना कि सर्वज्ञदेव सर्वगुणपर्यायोंको जानकर भी निर्विकल्प हैं, विकल्परूपसे नहीं जानते। हम लोग छद्मस्थ भी तो किसी न किसी प्रकारसे कुछ भूत-भविष्यकी बात समझते हैं, अवधिज्ञानी भी तो चिरभूत-भविष्यको बात प्रत्यक्ष जान लेते हैं तो जिनके ज्ञानावरणका पूर्ण क्षय हो चुका वे समस्त भूतभावी पर्यायोंको जान लें तो इसमें आश्चर्य नहीं, किन्तु यथार्थ ज्ञानका यथार्थ परिचय है।

अब सर्वज्ञतासे प्रसक्त तीसरी समस्यापर विचार करें कि जो पर्याय वर्तमानमें नहीं, सामने नहीं उसे केवलज्ञानी कैसे

जान लेगा ? इस समस्याका समाधान सब प्रवचनसारके उक्त उद्धरणोंमें आ गया, फिर भी संक्षेपमें यह समझ लीजिये कि ज्ञान पदार्थको इस कारण नहीं जानता कि वह वर्तमानमें है या सामने है। वह तो सत्त्वके कारण जानता है। जो सत् हो वह ज्ञेय होता है। भूतभावी पर्याय सर्वथा असत् नहीं अन्यथा उनका होना असम्भव हो जायगा। हम आप भी तो भूत-भविष्यकी कुछ समझते हैं व अवधिज्ञानी कुछ भूत-भविष्यकी पर्याय प्रत्यक्ष जानता है, सो यह बात भी न रही कि ज्ञान वर्तमानको जानता, अवर्तमानको नहीं।

सारांश यह है कि सर्वज्ञता आत्मस्वभावका विकास है, उससे किसी भी तथ्य (निमित्तनैमित्तिक भाव या वस्तुस्वातंत्र्य) का लोप नहीं होता। अतः स्याद्वाद न्यायसे सर्व तथ्योंको जानकर निर्विरोध रहें ताकि जैनसमाजमें पृथक्तावादका अवसर न आये और जैनसमाज एक व सवात्सल्य रहे ताकि विशुद्ध वातावरणमें ज्ञानी पुरुष प्रशमपूर्वक संसार-संकट मुक्तिका उपाय पुष्ट कर सकें।

(४) स्याद्वादभंगविधि—

स्याद्वादका अर्थ है दृष्टियोंकी अपेक्षाओंसे वस्तुधर्मोंका कथन करना। चूंकि वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, अतः वस्तुका

पूर्ण परिचय एक दृष्टिसे नहीं हो सकता और वे दृष्टियाँ एक दूसरेकी प्रतिपक्ष हैं। जैसे द्रव्यदृष्टि ध्रुव अंशको बताती है तो पर्यायदृष्टि अध्रुव (उत्पादव्यय) अंशको बताती है। तो धर्म भी परस्पर प्रतिपक्ष हुए। यों एक वस्तुमें परस्पर विरुद्ध धर्मों का अविरोध रूपसे रहनेकी सिद्धि स्याद्वादसे होती है। स्याद्वादके समस्त तथ्योंकी परख निम्नांकित उद्धरणोंसे कर सकते हैं—

समयसार परिशिष्ट—स्याद्वादो हि समस्त वस्तुतत्त्वसाधकमेवमेकमस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्यासतु सर्वमनेकान्तात्मकमित्यनुशास्ति सर्वस्यापि वस्तुनोऽनेकान्तस्वभावत्वात्। स्याद्वाद भली-भांति समस्त वस्तुतत्त्वको सिद्ध करने वाला ऐसा एक अस्खलित अर्हंतसर्वज्ञदेवका शासन है और वह सर्व पदार्थ अनेकान्तात्मक है, ऐसा अनुशासित करता है, क्योंकि सभी वस्तु अनेकान्तस्वभावी हैं।

समयसार परिशिष्ट—एकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादक परस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः। एक वस्तुके वास्तविक स्वरूपका निष्पादन करने वाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंका प्रकट करना अनेकान्त है।

सप्तभंगतरंगिणी—प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी। प्रश्नवशसे एक वस्तुमें अविरोध पूर्वक विधि व प्रतिषेधकी कल्पना करना सप्तभंगी है।

स्याद्वादके स्वरूपमें इतनी बातोंका प्रकाश है—(१) भिन्न भिन्न अपेक्षाओंसे एक वस्तुमें भिन्न-भिन्न धर्म बताना। (२) धर्मोंकी उन-उन अपेक्षाओंसे (अन्य अपेक्षाओंसे) निरपेक्ष होकर किसी एक अपेक्षाका ही बर्ताव न करना। (३) उन धर्मोंका परस्पर विरुद्ध (अनमिल) लक्षण होनेपर भी एक वस्तुमें अविरोध रूपसे रहना। (४) जिस धर्मका विधिरूप प्रथम भंग हो द्वितीय भंग उसके प्रतिषेधरूप होना। इस प्रकाश के आधारपर स्याद्वादके भंगोंका विधान देखें—

पदार्थको परखनेकी मूल दृष्टियाँ दो हैं—(१) द्रव्यार्थिक-नय, (२) पर्यायार्थिक नय, जिनके भिन्न-भिन्न प्रकरणोंमें ये नाम हो सकते हैं—निश्चय-व्यवहार, भूतार्थ-अभूतार्थ, शुद्ध-नय-अशुद्धनय, अभेदनय-भेदनय आदि। स्याद्वादमें अनेकान्त पदार्थ विदित होता है। स्याद्वाद द्वारा एक वस्तुके वस्तुत्वकी निष्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंका प्रकाशन होता है। फिर दो शक्तियाँ, दो धर्म एक साथ वक्तव्य न हो सकनेसे तीसरा भंग। फिर इन तीन स्वतंत्र भंगोंके द्विसंयोगी तीन भंग। फिर इन तीनोंका त्रिसंयोगी एक भंग, यों सात भंग होते हैं।

जैसे पूछा—जीव नित्य है या अनित्य? तो स्याद्वादसे उत्तर होगा—जीव द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, पर्यायदृष्टिसे नित्य नहीं है (अनित्य है)। तो दो भंग यों हुए कि जीव नित्य है,

नित्य नहीं है । यहाँ यों दो भंग नहीं बोलना कि जीव नित्य है, अनित्य नहीं है । यों बोलनेमें एक ही भंग आया । निषेधका निषेध विधि ही कहलाती है । यहाँ विरुद्ध दो शक्तियोंका प्रकाशन नहीं हुआ, एक ही बातको निषेध प्रतिषेधके रूपमें रिपीट ही किया गया है । यों बोलनेकी आदत एकान्तवादियोंको बनानी पड़ती है, क्योंकि यों दोनों बातोंमें बात एक ही कही जाती है । यों तो सभी एकान्तवादियोंको अनेकान्तवादी कह देना पड़ेगा । क्षणिकवादी कहते हैं—जीव क्षणिक है, अक्षणिक नहीं । यौग कहते हैं—ईश्वर सृष्टिकर्ता है, असृष्टिकर्ता नहीं । वेदान्ती कहते हैं—ब्रह्म अपरिणामी है, परिणामी नहीं । नियतवादी कहते हैं सब घटनायें नियत हैं, अनियत नहीं, इत्यादि रूपसे सभी अपने पक्षका आग्रह करते हैं । फिर वस्तु तथ्य, वस्तुका वस्तुत्व यथार्थ ज्ञानमें कैसे आवेगा ? बात यों समझना कि जब कहा जाय वस्तु नित्य है, अनित्य नहीं तो उसे द्रव्यदृष्टिका पक्का निर्णय समझना, स्याद्वादका निर्णय नहीं समझना । ऐसे ही जब कहा वस्तु क्षणिक है, अक्षणिक नहीं तो इसे पर्यायार्थिकनयका पक्का निर्णय समझना, स्याद्वाद का निर्णय नहीं समझना । यों सर्वत्र घटित कर लेना चाहिये ।

जैसे पूछा—विकारी पर्याय नियत है या अनियत ? तो स्याद्वाद उत्तर होगा—विकारी पर्यायें ज्ञप्तिनयसे नियत हैं, उत्पत्तिनयसे नियत नहीं हैं (अनियत हैं) । तो दो भंग यों हुए

कि विकारी पर्यायें नियत हैं, नियत नहीं हैं। यहाँ यों दो भंग नहीं बोलना कि विकारी पर्यायें नियत हैं, अनियत नहीं हैं। यों बोलनेमें एक ही भंग आया, निषेधका निषेध विधि ही कहलाती है। पहिले नियत शब्दसे पहिले 'अ' लगाकर निषेध किया, फिर 'नहीं' कहकर निषेधका भी निषेध किया। यहाँ अविरोधरूपसे रह सकने वाले विरुद्ध दो धर्मोंका प्रकाशन नहीं हुआ। एक बातको निषेधप्रतिषेधके रूपमें रिपीट किया गया है। यह तो एकान्तवाद ही रहा। योग्य उपादान अनुकूल निमित्त सान्निध्य पाकर अनुरूप विकारपरिणमन करेंगे। इस विधानसे जो परिणमन होगा वह विशिष्ट ज्ञानियों द्वारा ज्ञात हो गया, यों अविरोध रूपसे नियत, अनियत दोनों बातें सम्भव हैं।

सारांश यही है कि सही स्याद्वादविधिसे वस्तुतथ्यका सही परिचय करके निर्विरोध रहते हुए सामान्य वातावरण बनायें, जिससे धार्मिक संघके पृथक्त्वावादका अवसर न रहे और समस्त जैनसमाज एक व सवात्सल्य रहे ताकि प्रशमपूर्वक मोक्षमार्गके साधनका अवसर रहे।

(५) भूतार्थ अभूतार्थ—

भूतार्थका अर्थ है—स्वयं सहज हुआ अर्थ याने अनादि अनन्त अहेतुक शाश्वत अखण्ड अभेद सहजस्वभाव, इसको जो

विषय करे वह भूतार्थनय है। पदार्थ मात्र इतना ही नहीं है अर्थात् पदार्थके भेद, पर्याय न हों तो पर्यायरहित तो अवस्तु है, अतः पर्याय मानना अनिवारित है उसका ज्ञान अभूतार्थ नयसे होता है। अभूतार्थका अर्थ है स्वयं सहज अखंड न होने वाला अर्थ याने अशाश्वत भाव इसको जो विषय करे वह अभूतार्थ है। भूतार्थ तो एक अखंड सहजस्वभाव है और अभूतार्थ सात तत्त्व, नौ पदार्थ, अनेक गुण और पर्यायें हैं, शुद्ध परिणमन (पर्यायें) भी अभूतार्थ हैं और अशुद्ध परिणमन (पर्यायें) भी अभूतार्थ हैं। यों भूतार्थ ही सत्यार्थ हो, अभूतार्थ सत्यार्थ नहीं हो यह नहीं कह सकते हैं। हाँ, अभूतार्थका वर्णन उपचार तकमें भी किया जा सकता है। सो वहाँ विवेक रखना चाहिये कि जो उपचारविषयक अभूतार्थ है वह असत्यार्थ है। जो भूतार्थका आश्रय करते हैं वे सम्यग्दृष्टि होते हैं। इस प्रसंगमें भूतार्थका अर्थ सत्यार्थ तथा अभूतार्थका अर्थ असत्यार्थ नहीं लेना, क्योंकि गुण और पर्याय अभूतार्थ हैं और मिथ्या नहीं हैं। हाँ गुण और पर्यायें अखण्ड सहज भाव नहीं, इसी कारण इनका आश्रय करनेसे विकल्प होता है उस समय विकल्प सम्यक्त्वका हेतु नहीं है।

भूतार्थका अपर नाम शुद्ध नय है तथा अभूतार्थका अपर नाम अशुद्ध नय है। शुद्ध नयका विषय अनादि अनन्त अहेतुक शाश्वत अखण्ड स्वभाव है और अशुद्ध नयका विषय भेद,

गुण, पर्याय, सात तत्त्व, नव पदार्थ आदि हैं। अशुद्ध नयके ये विषय भी सत्य हैं, किन्तु इनका आश्रय विकल्पपरिणमनका हेतु है, सम्यक्त्वपरिणमनका नहीं। हाँ भूतार्थपद्धतिसे जाने गये ये तत्त्व सम्यक्त्वके हेतु होते हैं।

अभूतार्थका अर्थ कहीं सत्यार्थ व कहीं असत्यार्थ भी लिया जाता है जो सर्वथा असत्यार्थ नहीं, शुद्ध नयकी दृष्टिमें असत्यार्थ है, किन्तु अशुद्ध नयकी दृष्टिमें तो सत्यार्थ ही है तथा इस प्रसंगमें यह भी कह सकते हैं कि अशुद्ध नयकी दृष्टिमें अखण्ड स्वभाव अभूतार्थ है, शुद्ध नयकी दृष्टिमें भूतार्थ है। ये तो सब नयके विषय हैं। इनमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि अभूतार्थनय प्राक् पदवीमें प्रयोजनवान है, क्योंकि नव तत्त्वोंका परिचय अभूतार्थनयसे होता है, फिर नव तत्त्वोंमें गत अखण्ड एकत्वका अनुभव होनेपर अभूतार्थनय अप्रयोजनवान है।

सारांश यह है कि सर्वसाधारण असाधारण भव्य जीवोंके हितकी दृष्टि रखकर भाषण करना स्व-पर दोनोंके लिये श्रेयस्कर है। अतः भूतार्थ व अभूतार्थ दोनों नयोंकी अपनी-अपनी उपयोगिता समझाकर मैत्रीका वातावरण बनायें, जिससे जैन-समाजमें धार्मिक संघकी पृथक्तावादका अवसर न आये और समाज एक व सवात्सल्य रहे ताकि ज्ञानियोंको प्रशमपूर्वक मोक्षमार्गके साधनका अवसर मिले।

(६) निश्चय, व्यवहार व उपचार—

पदार्थको परखनेकी दो दृष्टियाँ होती हैं—(१) अभेददृष्टि और (२) भेददृष्टि । यहाँ अभेददृष्टिसे परखनेको निश्चय कहते हैं और भेददृष्टिसे परखनेको व्यवहार कहते हैं । ये दोनों ही नय श्रुतज्ञानके अंश हैं, अतः जैसे श्रुतज्ञान सम्यक् है वैसे ही ये दोनों नय अंशरूप सम्यक् (सम्यगंश) हैं, मिथ्या नहीं । मिथ्या तो उपचारको कहते हैं, याने एक वस्तुको दूसरी वस्तु का कर्ता, भोक्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, आधार व स्वामी कहना उपचार है और वह मिथ्या है । कहीं-कहीं उपचारकी बातको भी व्यवहार शब्दसे कह देते हैं । वहाँ यह विवेक करना चाहिये कि यह व्यवहार उपचारवाचक है, सम्यक् श्रुतज्ञानांशरूप नहीं, अतः मिथ्या है । जैसे जीव अपनी योग्यतासे विकारी हुआ इतना निरखना निश्चयनय (अशुद्ध निश्चयनय) है, कर्मविपाकके सान्निध्यमें जीव अपनी परिणमनशक्तिसे अपनेमें चैतन्यविकार रूप परिणमता है, यों निरखना व्यवहारनय है, कर्म जीवके विकारका कर्ता है, यों कहना उपचार है । समयसारकी उपचारप्रतिपादक ८४वीं गाथाकी आत्मख्याति टीकामें दृष्टान्तवाक्य व दार्ष्टान्तवाक्यके एक-एक वाक्यमें ही निश्चय, व्यवहार व उपचार तीनोंका समावेश किया है—

समयसार गाथा ८४ व आत्मख्याति टीका—

भाषानुवाद— अब व्यवहारको दिखाते हैं—व्यवहारके मतमें आत्मा अनेक प्रकारके पुद्गलकर्मोंको करता है और अनेक प्रकारके उसी पुद्गलकर्मको भोगता है ॥८४॥ जैसे अंतर्व्याप्यव्यापक भावसे मिट्टीके द्वारा कलश अनुभूत किये जाने पर और भाव्यभावक भावसे मिट्टीके द्वारा कलश अनुभूत किये जानेपर बहिर्व्याप्यव्यापक भावसे कलशकी उत्पत्तिके अनुकूल व्यापारको करने वाला और कलशकृत जलोपयोगसे उत्पन्न हुई तृप्तिको भाव्यभावक भावसे भोगने वाला कुम्हार कलशको करता है और भोगता है—यह लोगोंका अनादि रूढ़ व्यवहार है। उसी प्रकार अन्तर्व्याप्यव्यापक भावसे पुद्गलद्रव्यके द्वारा कर्म किये जानेपर और भाव्यभावक भावसे पुद्गलद्रव्यके ही द्वारा कर्म अनुभव किये जानेपर बहिर्व्याप्यव्यापक भावसे अज्ञान से पुद्गलकर्मकी उत्पत्तिके अनुकूल परिणामको करता हुआ और पुद्गलकर्मविपाकसे सम्पादित विषयोंकी सन्निधिसे प्रभावित सुख-दुःखपरिणतिको अनुभवता हुआ जीव पुद्गलकर्मको करता है और अनुभवता है। इस प्रकार अज्ञानियोंके आसंसार (अनादिकालसे) प्रसिद्ध व्यवहार चला आ रहा है।

उक्त उद्धरणमें दृष्टान्त में ३ बातोंपर प्रकाश है— (१) निश्चयनय—अन्तर्व्याप्यव्यापक भावसे मिट्टीमें ही कलश पर्याय बनी है और भाव्यभावक भावसे मिट्टीमें ही कलश

पर्यायका अनुभव है। सो स्पष्ट ही है उपादानमें ही उसकी पर्यायका परिणमन देखा जा रहा है। यहाँ अनुभवका अर्थ समझा नहीं, किन्तु प्रयोजकत्व है। (२) व्यवहारनय—बहिर्व्याप्यव्यापक भावसे सत्य ही यह जाना जा रहा है कि कलश की उत्पत्ति अनुकूल कुम्हार हाथका व्यापार कर रहा है तथा कलशमें पानी रखकर पीकर अपने हृदयमें तृप्तिका अनुभव कर रहा है। यहाँ भी कुम्हारको कलशमें मिट्टीमें कुछ करनेकी बात नहीं कही, किन्तु हस्तव्यापार करनेकी बात कही तथा भोगनेकी बातमें भी मिट्टीको कलशको भोगनेकी बात नहीं कही, किन्तु अपनी तृप्तिको भोगनेकी बात कही, परन्तु है यह सब निमित्त सम्पर्कके प्रसंगकी बात, अतः यह व्यवहार है और सही घटना है। (३) कुम्हार कलशको करता है व भोगता है, इतना अंश उपचार है, क्योंकि कुम्हारको मिट्टी कलशका कर्ता व भोक्ता बनाया, सो इतना अंश मिथ्या है जिसके लिये कहा है कि यह अनादिरूढ़ लोकव्यवहार है। इस उपचारमें भी ईषत् प्रयोजन है, नहीं तो कुम्हारको वस्त्र का कर्ता आदि क्यों न कह दिया? सो ईषत् प्रयोजनको कतई न समझकर सीधा यों ही समझना कुम्हार कलशका कर्ता भोक्ता है यह समझ मिथ्या है।

उक्त उद्धरणके दार्ष्टान्तमें भी ३ बातोंका प्रकाश देखें—(१) निश्चयनय—अंतर्व्याप्यव्यापक भावसे पौद्गलिक कार्मण-

वर्गणामें ही कर्मत्व पर्याय बनी है और भाव्यभावक भावसे पुद्गलकर्ममें ही कर्मत्व अनुभव है (विपाकोऽनुभवः)। सो स्पष्ट ही है उपादानमें ही उसकी पर्यायका परिणमन देखा जा रहा है। (२) व्यवहारनय—बहिर्व्याप्यव्यापक भावसे ठीक ही यह जाना जा रहा है कि पुद्गलकर्मत्वकी उत्पत्तिके अनुकूल यह जीव अज्ञानसे अपना परिणाम कर रहा है तथा उस पुद्गलकर्मके उदयके समय प्राप्त हुए विषयसन्निधिमें जीव सुख दुःख परिणतिको भोग रहा है। यहाँ भी जीवको पुद्गलकर्ममें कुछ करनेकी बात नहीं कही, किन्तु अपने परिणामके कहनेकी बात कही तथा भोगनेमें अपने चिदाभास सुख दुःख परिणतिके भोगनेकी बात कही गई है, परन्तु यह सब निमित्तसम्पर्कके प्रसंगकी बात है, अतः यह व्यवहार है और सही घटना है। (३) जीव पुद्गलकर्मको करता है व भोगता है, इतना अंश उपचार है, क्योंकि जीवको अन्य पदार्थ पुद्गलकर्मका कर्ता व भोक्ता बताया है, यह मिथ्या है, जिसके लिए कहा है कि अज्ञानियोंका यह आसंसार प्रसिद्ध व्यवहार बन रहा है। इसको मिथ्या घोषित किया है, क्योंकि जो जीव पुद्गलकर्मका कर्ता भोक्ता माने वह द्विक्रियावादी है। करनेका अर्थ परिणमना है, सो एक पदार्थ दूसरे पदार्थरूप परिणमता नहीं, अतः कोई पदार्थ दूसरे पदार्थका कर्ता नहीं, परन्तु विकार परसंगका निमित्त पाकर ही होता है, सो ऐसी घटनाका वर्णन व्यवहार है तथा

भेदकथन भी व्यवहार है। उपचारमें अनहोनी बातको बतानेके ढंगकी शब्दरचनामें कहता है सो मिथ्या है।

व्यवहारनयके चार प्रकार हैं—उपचरित असद्भूतव्यवहार, अनुपचरित असद्भूतव्यवहार, उपचरित सद्भूतव्यवहार, अनुपचरित सद्भूतव्यवहार। निश्चयनयके तीन प्रकार हैं—अशुद्धनिश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय, परमशुद्धनिश्चयनय। इन सातमें उत्तरोत्तर बढ़नेपर पूर्व-पूर्व अप्रयोजनवान होता जाता है और अन्तमें परमार्थ अनुभूति होनेपर परमशुद्धनिश्चयनय भी अप्रयोजनवान हो जाता है। मूल लक्ष्य ज्ञानीका स्वभावदृष्टि, स्वानुभूति है। सब नयोंका यथार्थ परिचय उत्तरोत्तर इसी लक्ष्यका प्रेरक है।

अब सिद्धान्ततया परखिये— निश्चय, व्यवहार व उपचार क्या है? कोई प्रश्न करे कि तत्त्वार्थसूत्रमें बताये गये ७ नयों में से प्रकृत निश्चयनय कौनसा नय है? तो परखिये नैगमनय तो अर्थनय नहीं है, वह तो ज्ञाननय है। निश्चयनय अर्थनय है। अर्थनय संग्रह, व्यवहार व ऋजुसूत्र—ये तीन हैं। संग्रहनय अर्थात् सतोंका संग्राहक नय। प्रत्येक सत् निश्चयनयका विषय है सो संग्रहनयमें समस्त निश्चयोंका संग्रह है। अब संग्रहसे निखरकर एक निश्चयपर आनेका उपाय व्यवहारनय है। यह व्यवहारनय निश्चयव्यहार वाला व्यवहार नहीं, किन्तु द्रव्यार्थिकनय वाला व्यवहारनय है। 'संगृहीत निश्चयोंका

विश्लेषण कर व्यवहारनय आखिरमें एक निश्चयनयके विषय को याने अखण्ड एक सत्को पहिचानवा देता है । अतः अविभागी अंतिम व्यवहारनय नामक द्रव्यार्थिकनयरूप अर्थनय निश्चयनय है । इस निश्चयनयको अशुद्ध द्रव्यार्थिकतासे परखनेपर अशुद्धनिश्चय कहते हैं, शुद्ध (पर्यायशुद्ध) द्रव्यार्थिकता से परखनेपर शुद्धनिश्चय कहते हैं और परमशुद्धद्रव्यार्थिकता से परखनेपर परमशुद्धनिश्चयनय कहते हैं । यहाँ यह जानना कि पर्यायकी प्रमुखतासे भी एक सत्को परखना निश्चयनय कहलाता है और यह अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय व शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकी निकटताको शोभित करता है ।

हाँ तो निश्चयनय अधिगमका नयरूप उपाय कहलाया । जैसे कि कहा है—"प्रमाणनयैरधिगमः ।" अब व्यवहार क्या ? निश्चयनयके विषयके प्रतिपादनको व्यवहार कहते हैं । परमशुद्धनिश्चयका अभेद प्रतिपादक है अनुपचरितसद्भूतव्यवहार । परमशुद्धनिश्चयका भेद प्रतिपादक है उपचरितसद्भूतव्यवहार । ये ही शुद्धनिश्चयके प्रतिपादनके मूडमें शुद्धनिश्चयप्रतिपादक होते हैं । अबुद्धिगत विकारग्राहक अशुद्धनिश्चयका प्रतिपादक हैं अनुपचरितअसद्भूतव्यवहार । बुद्धिगत विकारग्राहक अशुद्धनिश्चयनयका प्रतिपादक है उपचरितअसद्भूतव्यवहार । इन व्यवहारोंका नाम उपनय है ।

भिन्न-भिन्न अनेक द्रव्योंमें एक दूसरेका कर्ता, कर्म,

करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बंध आधार बताना उपचार है। उपचारमें प्रयोजनका जानना प्रयोजनवान है।

सारांश यह है कि सर्वनयोंका परिचय करके स्वभावदृष्टि का काम बनानेका पौरुष करें और निर्विवाद हों ताकि जैन-समाजमें धार्मिक संघकी पृथक्तावादका अवसर न आये और सब समाज एक व सवात्सल्य रहे ताकि ज्ञानी जीवोंको प्रशम पूर्वक मोक्षमार्गके साधनका अवसर मिले।

(७) साधु गुण

आजकल साधुके समर्थन और विरोधके वातावरणको लेकर कुछ फूटसी फैल रही है। इस विषयमें कुछ तथ्यपूर्ण विचार रख रहे हैं जो कि मेरी भावनाके अनुसार समर्थक और विरोधक दोनोंको मान्य होना ही चाहिये। साधुके दोषों में मुख्य ३ बातें रखी जाती हैं—(१) उद्दिष्टाहार, (२) परिग्रह, (३) अज्ञान। अब इनके सम्बन्धमें विचार करें—

उद्दिष्टाहार—उद्दिष्टाहारका त्याग साधु जन इस कारण करते हैं कि मात्र मेरे निमित्तसे कोई अलग आरम्भ करनेका श्रम न करें। अलग आरम्भका अर्थ यह है कि श्रावक स्वयं व परिजन तो अलग रसोई बनाकर खाये और केवल साधुके लिये अलग दूसरी जगह चूल्हा जलाकर रसोई बनावे। सो साधु यह देख लेते हैं कि भोजन केवल एक व्यक्तिमात्रके

प्रमाणका है क्या, यदि उद्दिष्टाहार हो तो उसको साधु ग्रहण नहीं करते। किन्तु कोई यह संकल्प करे कि मैं आज साधुको आहार दूँगा तो इस संकल्पसे उद्दिष्ट दोष नहीं होता, ऐसा संकल्प करनेको तो व्रत बताया है—अतिथि संविभाग व्रतमें व्रतीके प्रतिदिन आहारदानका संकल्प रहता। श्रावक कोई ऐसा भी नियम लेते हैं कि प्रत्येक पखवाड़ेमें अमुक तिथिको आहारदान करूँगा। ये सब आगममें वर्णित आदेश हैं। यदि कोई गृहस्थ चाहे रोज मर्यादित शुद्ध भोजन करता हो और किसी दिन मुनिराज आये हों उस दिन मुनिराजको आहार देना चाहिये, ऐसा सोचकर भी अलग अतिरिक्त चूल्हा न जलाकर अपने अपृथक् चूल्हेपर शुद्ध भोजन बनावे तो उस गृहस्थको अपने लिये तो भोजन बनाना ही था और रोज अमर्यादित भोजन बनाता था, सो आरम्भ तो करता ही था, आज उसने हिंसा टालकर आरम्भ किया तो गुण ही हुआ, वह आहार भी उद्दिष्ट नहीं है।

सारांश यह है कि गृहस्थका सारा भोजन तो जहाँ बनता था वहीं बनाये और मात्र मुनिके लिये अलग स्थानपर भोजन की व्यवस्था करे तो उद्दिष्ट है। यह दोष श्रावकके आश्रित है, सो श्रावक किसी भी दिन अपने लिये भोजन बनाये जानेके स्थानपर या अन्यत्र बनाया जाना पड़े तो उस स्थानपर स्वयं भी खाये, इस मात्रामें शुद्ध आहार निर्माण करे तो वह उद्दिष्ट

नहीं । श्रावकको इसी भाँति आहार बनाना चाहिये । ऐसा ही चतुर्थकालमें संभव था ।

उद्दिष्टाहारका उक्त तथ्य ज्ञानमें रहे तो इस प्रसंगमें विरोध न रहेगा और समस्त जैनसमाज एक व सवात्सल्य रहेगा । भावी पीढ़ीके मानवसमाजके धर्ममार्गमें लगनेके लिये व अपने गुणोत्कर्षके लिये तीर्थपरम्पराका भाव बनाये रखना श्रेयस्कर है ।

परिग्रह—साधुके मूल गुण २८ हैं, जिनमें परिग्रहत्याग भी एक मूल गुण है, अतः साधुके परिग्रह नहीं होना चाहिये; केवल संयमोपकरण (पीछी, शौचोपकरण (कमंडल) व ज्ञानोपकरण (शास्त्र) होना चाहिये । चश्मा शास्त्रस्वाध्याय करनेमें जिन्हें सहायक हो तो वह तथा लेखनी, कापी आदि ज्ञानसाधन से सम्बंधित हैं । इनके अतिरिक्त अन्य कुछ साधुके पास नहीं होना चाहिये । मोटर, गाड़ी, चक्की, चूल्हा, अनाज आदि यदि साधु रखे या लेकर चले तो वह साधु नहीं रहता । हाँ साधुविहारके प्रबन्धमें गृहस्थ ये सब लेकर चले तो इसमें साधु को दोष नहीं है । परन्तु कोई साधु व्यवस्था तो स्वयं करे, अधिकार भी रखे और मात्र वचनसे कहे कि यह तो अमुक सेठका प्रबन्ध है तो इसमें परिग्रह व छल दोनोंका दोष लगता है । अतः जो परिग्रही हैं वे साधु नहीं, लेकिन यह कहना कि इस कालमें साधु ही नहीं होते तो यह कहना मिथ्या है और

दर्शनमोहका बन्धक मात्र है। जो साधु तीन उपकरणोंके अलावा अन्य कुछ रखते नहीं उनके प्रति विनयभाव रखनेसे कषायोच्छेद, धर्मरुचि आदि अनेक लाभ होते हैं। जब तक श्रावक होंगे तब तक साधु भी होंगे। कोई समाज धर्मगुरुके बिना टिक नहीं सकता। यदि कोई धर्मगुरुनिषेधक समाजकी रचना करे तो वह समाज भी तभी तक टिक सकेगा जब तक निषेध करनेके लिए (जिनका निषेध किया जा रहा हो वे) धर्मगुरु मिलते रहेंगे।

साधुस्वरूप अन्तरङ्गमें साम्यभाव व बाह्यमें २८ मूल गुण हैं। यदि उत्तर गुण न पलें तो इतनेसे साधुता नहीं मिटती। आजकल हीनसंहनन है, अतः जैसे मुक्ति और श्रेणी अशक्य है वैसे ही शीत ऋतुमें नदी, तट, मैदान, वन आदिमें निवास; ग्रीष्म ऋतुमें पर्वत, मैदान आदिपर निवास व वर्षा ऋतुमें वृक्षतलमें निवास अशक्य है। यदि कोई साधु इस उत्सर्ग मार्गका हठ करे तो संक्लेशमरण करके संसार-संतति ही वह बढावेगा। हाँ, यदि कोई प्रव्यक्त क्रोध, मान, माया, लोभ करे, निन्दामें क्षोभ करे, प्रशंसा सुननेमें राग करे, पूजक विराधकमें पक्षपात करे, मोक्षमार्गके अप्रयोजनभूत मंत्र-तंत्र आदिका अभियान करे, तीन उपकरणोंके अतिरिक्त किसी पदार्थका संचय लगाव करे, २८ मूल गुणोंका पालन न करे तो वह साधु नहीं है।

पंचम कालमें उत्पन्न पुरुषोंका संहनन हीन होता है, मुक्ति भी नहीं होती, श्रेणी भी प्राप्त नहीं होती, सो मुक्तियोग्य व श्रेणियोग्य निर्दोषचारित्रको ही साधुस्वरूप बताकर आजकल कोई साधु हो नहीं सकता, ऐसा प्रसार करनेमें ये कारण सम्भव हैं—(१) मेरे नामका समाज बने, ऐसी खुदकी सीमातीत महत्त्वाकांक्षा वाला अनन्तानुबंधी लोभ, (२) दिगम्बर समाजको सुहावने लगें, ऐसे बड़े-बड़े लोभ दिखाकर जन्मजात दुर्वासनाके कारण दिगम्बरत्वका मूलोच्छेद करनेकी युक्ति मिलाने वाला अनन्तानुबंधी क्रोध, (३) दिगम्बरत्वके प्रति रुचि न होकर भी दिगम्बर समाजमें सिक्का जमानेके यत्न वाली अनन्तानुबन्धी माया, (४) कोई भी व्यक्ति साधुके प्रति नम्र न होकर केवल मुझको ही सर्वस्व माने, ऐसे आशय वाला अनन्तानुबंधी मान।

लोग पुराणोंमें लिखित उत्तरगुणकी चर्चा सुनकर उनका अभाव देखनेपर कहने लगते हैं कि आजके साधुमें यह कमी है, यह दोष है, किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि पुलाक आदि ५ प्रकारोंमें पुलाक मुनि भी पूज्य और भावलिंगी है। पुलाक उन्हें कहते हैं जिनमें उत्तर गुण न हों और क्वचित् कदाचित् किसी एक मूल गुणका भी विघात हो। साधुके अध्यात्मसाधनाका मुख्य लक्ष्य रहता है और अध्यात्मसाधनाकी विराधनाके साधनभूत गृह, परिवार, वैभव, वस्त्र आदिका संग

छोड़ा गया है । कोई श्रावक मच्छर, ठंड, गर्मीसे बचनेके लिये अनुकूल कमरा, गुफा, टमोटी आदिकी व्यवस्था करे तो उस बीच रहनेसे साधुकी साधुता नष्ट नहीं होती । हाँ, यदि साधु स्वयं इन साधनोंका प्रबंध बनाये तो वह परिग्रह हो जायगा।

जिनभक्त लोगों द्वारा साधुके प्रथम दर्शनके अवसरमें तो भक्तिपूर्वक उनकी वंदना, उपासना, सेवा करना अनिवार्य है. पश्चात् कुछ दिवसोंके संग व परिचयके बाद जिन साधुवोंमें अनर्गल प्रवृत्ति जंचे उनकी वंदनादि नहीं करना चाहिये, जिन साधुवोंमें मूलगुणका पालन क्षमा, समता, सरलता दृष्टिगत हों उनकी वंदना, सेवादि अवश्य करना चाहिये । कुगुरु व सुगुरु चतुर्थकालमें भी होती रहे व अब भी हैं, किन्तु सभी साधुवों को पापी बताकर गुरुपरम्पराका मूलोच्छेद करनेका प्रयास महापाप है, इससे गुरुपरम्पराविराधकका तो कल्याण है नहीं और वर्तमान व भावी पीढ़ीके मानवोंका धर्मसाधन मिटाकर लाखों मानवोंका अकल्याण करनेका यह महापाप और हो जाता है । आगममें साधुके उत्कृष्ट आचरणका तो विवरण किया गया है, किन्तु कितना कम आचरण करनेपर भी साधु रह सकता है । इसका साधारण पुलाक मुनिके निर्देश व मूल गुण व उत्तर गुणका द्वैविध्य आदि संकेत ही किया गया है, क्योंकि इसका विवरण होनेपर तो उत्कृष्ट आचरणके लिये प्रोग्राम कोई न सोचे, ऐसा भी हो सकता है । बहुतसा स्पष्टी-

करण तो आचार्यपरम्परासे विदित होता है।

सारांश यह है कि परिस्थितिवश कोई साक्षात् दिगम्बर संतोंके प्रति नम्र न हो सकें उनके कहनेसे या किसी साधुमें दोष दिखे आदि कारणसे ऐसा निर्णय मत बनाओ कि आजके सभी साधु पापी हैं। चित्तमें भाव रखो कि मूल गुणधारी क्षमाशील साधुवोंकी वंदना व यथाशक्ति सेवा करूं। ऐसी नम्रताका व्यवहार रखो, इससे धार्मिक संघकी पृथक्तावादका अवसर न रहेगा और समस्त जैनसमाज एक व सवात्सल्य रहकर धर्मसाधनका लाभ उठा लेगा।

अज्ञान—समस्त परपदार्थ व परभावोंसे विविक्त निज सहज अन्तस्तत्त्वका सप्रतीति ज्ञान न होनेको अज्ञान कहते हैं। जब तक वह अज्ञान है तब तक मोक्षमार्गका प्रारम्भ भी नहीं होता। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तोंमें 'यह अज्ञान किसके है और किसके नहीं है, यह निर्णय अधिकारपूर्णतासे ऋद्धि सिद्धि प्राप्त विशिष्ट ज्ञानियोंके सिवाय और कोई नहीं कर सकता है। ग्यारह अंग नौ पूर्वमें आत्मप्रवाद व ज्ञानप्रवाद पूर्व भी आया है, उस तकके अधिकारपूर्ण ज्ञाता मुनि भी अनेकों अज्ञानसे सहित सम्भव हो सकते हैं। ये प्रभावक शैलीसे बड़ा बल देकर भाषण भी करते हैं। इस अन्तस्तत्त्वके विषयमें बड़ा जोरदार व्याख्यान भी देते हैं तब भी अज्ञानरहित न हों यह भी सम्भव है। अनेकों साधारण मुनि जो भाषण नहीं कर

सकते और वे ज्ञानी हुए मोक्ष भी गये, ऐसे ही शिवभूति आदि के अनेक उदाहरण हैं और अनेकों ऐसे भी हुए जिनके नाम का भी पता नहीं। अतः अज्ञानकी परीक्षा करके व्यहार करने का आदेश नहीं, किन्तु ज्ञानके प्रतिकूल कषाय चेष्टायें देखकर विवेक करनेका आदेश है।

जो साधु समितिपूर्वक चेष्टा करते हों, पाँच पापोंसे दूर हों; क्रोध, गर्व, कपट, तृष्णाका प्राबल्य जहाँ न हो, मूल गुण से जो शोभित हों, ऐसे साधुको देखकर निश्चयरत्नत्रयका स्मरण कर विनम्र हो जाना, प्रसन्न हो जाना व सेवा करना जिनभक्तका कर्तव्य है।

सारांश यह है कि गर्व छोड़कर यथाजात जिनलिङ्गके प्रति नम्र रहनेमें स्वयंके दर्शन, ज्ञान, चारित्रके उत्कर्षका अवसर है, ऐसा समझकर आत्महित भक्तिव्यवहार करें और अन्तरंगमें सहजकारणपरमात्मतत्त्वके आश्रयकी भावना दृढ़ करें, जिससे धार्मिक संघकी पृथक्तावादका अवसर न रहे और समाज परस्पर सवात्सल्य रहे तथा प्रशमपूर्वक मोक्षमार्गके साधनका अवसर बना रहे।

॥ सहजानन्द-वात्सल्य समाप्त ॥

—:※:—